

आदिवासी समाज और शिक्षा

□ राजाराम भादू

आज 26 जनवरी 1948 को स्वतंत्रता दिवस है। इसे उत्सव की तरह मनाना तब बिल्कुल ठीक था जब हम स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे। इस स्वतंत्रता को जब हमने देखा न था, न ही उसे संभालने का हुनर हम में था। अब तो हम उस स्वतंत्रता का उपयोग कर रहे हैं और हम दिगभ्रमित हैं। संभव है कि आप दिगभ्रमित न हों, लेकिन कम से कम मैं तो हूँ।

- महात्मा गांधी

‘आदिवासी समाज और शिक्षा’ पुस्तक ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन की शृंखला ‘शिक्षा शास्त्र के नये क्षितिज’ के पहले सैट में आयी थी। इसके लेखक रामशरण जोशी परंपरागत अकादमिक अर्थ में शिक्षाविद् नहीं हैं। लेकिन वे एक विशिष्ट सामाजिक विश्लेषक हैं। भारत के आदिवासी जीवन और हाशिये के लोगों पर उनके रचनात्मक लेखन ने अकादमिक घेरे का अतिक्रमण किया है और उसके बाहर हलचल मचायी है। एक सामाजिक शोधकर्ता के रूप में वे सिर्फ आंकड़ों से नहीं खेलते रहे हैं, बल्कि लोक जीवन की मूल अन्तर्वस्तु और सांस्कृतिक अस्मिता के खोजी रहे हैं। दूरस्थ अंचलों के आदिवासी जीवन पर बाह्य हस्तक्षेप के विनाशकारी प्रभाव और उनके सामाजिक संक्रमण की उन्होंने गहरी पडताल की है। वे शिक्षा को सांस्कृतिक आयाम में देखते हैं और इसे वंचितों के सशक्तिकरण की प्रक्रिया से जोड़कर चलते हैं। इस पुस्तक में यह विशेषता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

यह दो खंडों में है, पहले खंड में विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों के जनजीवन का स्थिति अध्ययन है और दूसरे में आदिवासी समाज के संदर्भ में शिक्षा पर दो लंबे लेख हैं। यह पुस्तक पहले अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी जिसका प्रथम हिन्दी संस्करण 1996 में आया है। अंग्रेजी संस्करण की भूमिका में रामशरण जोशी बताते हैं कि सन् 1971 में पहली बार वे ‘दिनमान’ के लिए रिपोर्टिंग करने बस्तर अंचल गये। उसके बाद उन्होंने बस्तर के आदिवासियों पर

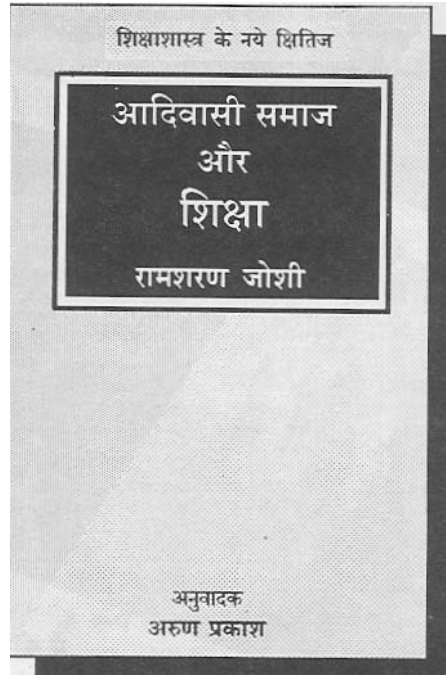
उद्योगीकरण के प्रभाव और आदिवासी शिक्षण की समस्याओं पर अनुसंधान किया। आठवें दशक के अखिर में उन्होंने राजस्थान, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, असम, बिहार, अरुणाचल और मध्यप्रदेश के वंचित लोगों के इलाके देखे। 1981-82 में इस पुस्तक का द्वितीय खंड लिखा गया था। पुस्तक के बारे में वे कहते हैं : “आदिवासी समाज की समस्याओं के अध्ययन के लिए किसी क्रमिक या पारंपरिक पद्धति का सहारा नहीं लिया गया है। पेशे से एक खोजी पत्रकार और प्रतिबद्ध सामाजिक अनुसंधानकर्ता के रूप में मेरा विचार है कि मानवीय पीड़ा को महज आंकड़ों में नहीं बांधा

जा सकता। इसलिए किसी शोधार्थी को सांख्यिकीय आंकड़े अपूर्ण लग सकते हैं, लेकिन पुस्तक में उठाये गये मुद्दे तब तक प्रासंगिक बने रहेंगे जब तक वंचना के ये दंडद्वीप मौजूद हैं और जब तक इनमें आमूल परिवर्तन नहीं आ जाता।”

दुर्भाग्य से, स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। 1996 को हिन्दी संस्करण की भूमिका में रामशरण जोशी लिखते हैं : “प्रस्तुत पुस्तक 1984 में अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी। तब यह उम्मीद थी कि आने वाले वर्षों में आदिवासी समाज के दारुण उत्पीड़न एवं शोषण की कथाएं नहीं दोहराई जाएंगी। अत्याचार, अतीत की कहानी बन जायेंगे। लेकिन, पिछले 12 वर्षों के अनुभवों ने इस ‘सदिच्छा’ को झुठला दिया। 1995 के वर्षात में बस्तर जाने का अवसर मिला।

जिले के औद्योगिक क्षेत्र बैलाडीला की भी यात्रा की। इस यात्रा का बहुत सुखद अनुभव नहीं रहा। 1976 की प्रदूषण की समस्या आज 1985 में भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। दंतेवाडा की नदी का पानी आज भी प्रदूषित है। भू लूट और वन-कटाई आज भी जारी है। बाहरी ठेकेदारों की पकड़ उतनी ही मजबूत है।..... जहां तक ‘वंचना की प्रक्रिया’ का प्रश्न है, वह आज भी पुरानी नहीं हुई है। (काश ऐसा होता)। इसने पीडाजनक अनुभवों को हल्का करने के बजाए इन्हें और अधिक त्रासदीपूर्ण किया है।”

पुस्तक के प्रथम खंड में राजस्थान, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, असम, बिहार, अरुणाचल प्रदेश और मध्यप्रदेश के आदिवासी



अंचलों की स्थिति का अध्ययन प्रस्तुत किया है। आदिवासियों की स्थिति 'वंचना की स्थिति' है और लेखक ने वंचना की समूची प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत किया है। वंचना कोई स्वतंत्र और अलग-थलग परिघटना नहीं होती। यह हमारे समाज की उस बहुमायामी प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है जो वंचन के द्वीपों का निर्माण करती है। इसलिए वंचना से अमानवीकरण, परायापन और सघन चुप्पी जुड़े होते हैं। ये इस पुस्तक में विवेचित विभिन्न द्वीपों की अनिवार्य विशेषताएं हैं।

रामशरण जोशी के प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्ष अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा की 29 वीं रपट के निष्कर्षों से मेल खाते हैं। आयोग की रपट कहती है : "व्यवस्था को बनाये रखने की चिंता, विकास की हड़बड़ी और उसकी चकाचौंध में गरीबी, खासतौर से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के संरक्षण की जिम्मेदारी के अंधेरे गलियारे, अक्सर भुला दिए जाते हैं। इतना ही नहीं, नीति सिद्धांत और कानून के साए में पुरानी और नयी दोनों ही व्यवस्थाओं के निहित स्वार्थों का साथ देने और उन पर घातक प्रहार करने तक में भी संकोच नहीं होता है। कहीं कहीं तो ऐसा लगता है, मानों कानून, संविधान, मानवीय अधिकार और राज्य के दायित्व का वजूद ही न हो।"

निश्चय ही पुस्तक का पहला खंड ज्यादा बड़ा है जिसमें आदिवासी जीवन के मौजूदा हाहाकार का चित्रण है। पुस्तक के शिक्षा-विषयक दूसरे खंड में सिर्फ दो अध्याय हैं। किन्तु, यदि हम शिक्षा के ध्येय और स्वरूप को तय करते वक्त ये भी ध्यान में रखना चाहते हैं कि यह शिक्षा किनके लिए होगी तो पुस्तक के पहले विस्तृत खंड की प्रासंगिकता समझी जा सकती है। देश की बहुसंख्यक आबादी का आदिवासी तबका आज भी शिक्षा से वंचित है। साथ ही अनेक शिक्षाविदों की स्पष्ट राय है कि मौजूदा शिक्षा प्रणाली की आदिवासी समाज के लिए कोई खास उपदेयता नहीं है। वस्तुतः इसका स्वरूप निर्धारण करते समय आदिवासी जीवन ध्यान में भी नहीं रहा है। यदि हमें शिक्षा को देशज संदर्भों से जोड़ते हुए विकसित करना है तो आदिवासी समाज और संस्कृति एवं उसकी वर्तमान अवस्थिति को जानना जरूरी हो जाता है। इसके लिए प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम खंड एक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। यद्यपि आदिवासी अंचल की सांस्कृतिक विशिष्टताओं को यहां पर्याप्त अवसर नहीं मिला है।

आदिवासी जीवन में वंचना है तो वहां शिक्षा की भूमिका क्या होगी? इसका सीधा उत्तर यही हो सकता है कि शिक्षा को वंचना के प्रतिकार की भूमिका ग्रहण करनी होगी। आदिवासी समाज का सशक्तिकरण शिक्षा का मूल प्रकार्य होगा। इस धारणा

को हम इस तथ्य से भी पुष्ट कर सकते हैं कि मौजूदा शिक्षा का फैलाव अभी तक आदिवासियों की बदहाली में कोई खास बदलाव तो क्या ठहराव भी नहीं ला पाया है। तब यह स्वाभाविक हो जाता है कि रामशरण जोशी पाब्लो फ्रेरे के शिक्षा दर्शन की ओर आकृष्ट होते।

पुस्तक के दूसरे खंड का पहला अध्याय पाब्लो फ्रेरे के शिक्षा-दर्शन और उसकी भारतीय आदिवासी समाज में तदनु रूप पद्धतिगत निरूपण की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। यह प्रासंगिकता अध्ययन फ्रेरे के शिक्षा-दर्शन और उसकी भारतीय आदिवासी समाज में प्रासंगिकता पर है। शिक्षा मुक्ति की निरंतर प्रक्रिया शीर्षक यह प्रासंगिकता अध्ययन फ्रेरे की तीन बहुचर्चित पुस्तकों 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' (पेडागॉजी ऑफ दि आप्रेस्ड), 'स्वतंत्रता के लिए सांस्कृतिक कार्यवाई' (कल्चरल एक्शन फॉर फ्रीडम) तथा 'विवेचनात्मक चेतना के लिए शिक्षा' (एजुकेशन फॉर क्रिटिकल कांशसनेस) पर आधारित है।

'दलित चेतना के लिए शिक्षा का एक प्रयोग' शीर्षक अंतिम अध्याय में लेखक ने दो शिक्षण-अभ्यासों के जरिये वंचितों में प्रतिरोध और संगठन की चेतना उत्पन्न करने की प्रक्रिया वर्णित की है। 'आओ शिकार करें' और 'आओ नया गांव बसायें' शीर्षक से दिये गये ये अभ्यास उत्पीड़ितों में विवेचनात्मक चेतना की प्रक्रिया शुरू कर सकते हैं। लेकिन यह तभी संभव हो सकता है जब शिक्षक अपनी परंपरागत भूमिका का अतिक्रमण कर एक 'एक्टिविस्ट' की तरह काम करें। जबकि शिक्षा जगत में अभी तक यह बहस किसी मुकाम तक नहीं पहुंच पायी है कि शिक्षक की भूमिका स्कूल की चाहरदीवारी तक ही सीमित है या वह वक्त जरूरत उसका अतिक्रमण भी कर सकता है।

यह सभी जानते हैं कि पाब्लो फ्रेरे का शिक्षा दर्शन मूलतः वयस्कों की शिक्षा के लिए प्रतिश्रुत है। हालांकि बच्चों के लिए एक भिन्न शिक्षा पद्धति विकसित करने में उससे मदद ली जा सकती है। पाब्लो फ्रेरे ने परंपरागत शिक्षा प्रणाली की तीखी आलोचना करके उसके मूल यथास्थितिवादी चरित्र को उद्घाटित किया है किन्तु इसके बावजूद वे शिक्षणशास्त्र वयस्कों के लिए ही विकसित करते हैं। रामशरण जोशी ने भारतीय औपचारिक शिक्षा प्रणाली की आलोचना में फ्रेरे की मदद ली है किन्तु उनके द्वारा विकसित शिक्षण-अभ्यास वयस्कों पर ही प्रयुक्त किये जा सकते हैं। बच्चों के लिए फ्रेरेरियन दर्शन पर आधारित शिक्षण-विधि विकसित करने का काम शायद उन्होंने आगे के लिए छोड़ दिया जो आज तक छूटा हुआ है। लेकिन यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि देश में चले साक्षरता कार्यक्रमों ने न तो फ्रेरे के शिक्षा दर्शन से कोई सीख ली और न ही जोशी जी के शिक्षण-अभ्यासों को क्रियान्वित किया। ♦